International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 15
November 2017

हिंदी दलित आत्मकथाओं में मानवता की पुकार

डॉ0 संतोष रानी,
Junior Lecturer, Govt. Girls Sr. Sec. School, Madina, Rohtak

सभ्य समाज का आधार नैतिक मानदंडो पर आधारित होता है। जिसमें स्वतन्त्राता, समानता, बंधुता व मानवीयता आदि मूल्य समाज को नियन्त्रित व सुचारू रूप से चलाने के लिए आवश्यक होते हैं। लेकिन आधुनिक युग के आपा–धापी व भौतिकवादी जीवन में ये मानवीय मूल्य लुप्त होते जा रहे हैं। औद्योगिकरण की नई परिस्थितियों ने मानवीय सम्बंधों, संस्कारों और मानसिकता में परिवर्तन ला दिया है। अगर दलित समाज के सन्दर्भ में इन मानवीय मूल्यों का अवलोकन किया जाए तो सभ्य समाज ने इन्हें कभी मनुष्य समझा ही नहीं। इसने साथ पशु से बदतर व्यवहार किया जाता रहा है। असमानता, शोषण, अत्याचार व अन्याय पर आधारित भारतीय समाज ने दलितों को मात्र गरीबी, भूखमरी, गुलामी, अशिक्षा आदि परिस्थितियों में जीने को मजबूर किया है। समस्त मानवाधिकार से वंचित यह वर्ग सवर्ण समाज की हिंसक प्रवृति का शिकार रहा है। सवर्ण समाज की इसी रक्त चूषक प्रवृति का दलित आत्मकथाओं में वर्णन हुआ है। जहां दलित समाज की लाचारी व बेबसी का चित्रण तो है ही साथ ही साथ सवर्ण समाज की संवेदनहीनता का बोध भी होता है।

दलित समाज अमानवीय पूर्ण जीवन व्यतीत करता आया है। जिसकी खबरें हमें आये दिन अखबारों व पत्रिकाओं में भी देखने व सुनने को मिलती हैं। दलितों को घोड़ी पर न चढ़ने देना, कुआँ पूजन से रोकना, घर बस्ती में आग लगाना व उनकी निर्मम तरीके से की गई हत्याओं की खबरों से सवर्ण समाज की क्रूरता का पता चलता है। जहाँ मानवता जैसे मूल्य ध्वस्त दिखाई पड़ते हैं। आत्मकथाकारों ने ऐसी नरक यातनाएँ भोगी भी हैं और देखी भी हैं। जिनका वर्णन दलित आत्मकथाकारों ने अपनी आत्मकथाओं में किया है। सूरजपाल चौहान ने इस संदर्भ में एक घटना का जिक्र करते हुए लिखा है–"देश के दलित युवक की नाक में नकेल डालकर सरेआम गांव और शहर में घुमाना या फिर दलित महिला सरपंच को स्वतन्त्रता दिवस पर वस्त्राहीन करना सवर्ण और उनका कानून अपना नैतिक व राष्ट्रीय कर्त्तव्य समझने लगे हैं। देश के दलितों का अपमान होने पर आम सवर्ण तो चुप्पी साध ही लेते हैं, सवर्ण मानसिकता लिए देश के बुद्धिजीवियों और कानून के रखवालों के कानों पर जूं नहीं रेंगती जैसे कुछ हुआ ही न हो। ऐसी स्थिति में उन्हें कौन कहेगा कलम के सिपाही।"[1]

भारत सरकार ने अस्पृश्यता निवारण कानून बनाए हैं, जिसमें मैला ढ़ोना, मरे जानवरों को उठाने की प्रथा की समाप्ति आदि के निवारण हेतु अनेक कानूनी प्रावधान किए हैं। यह समाज का नैतिक पतन ही है कि जहाँ दुनिया एक तरफ चाँद पर पहुँच चुकी है। वही दलित समाज का कुछ हिस्सा इन्हीं प्रथाओं में फंसा हुआ है। क्योंकि दलित इसे अपना पुश्तैनी कार्य समझता है। रोजी–रोटी कमाने के लिए उसके पास कोई चारा भी नहीं है। अगर वह विरोध भी करता है, सवर्ण समाज की संकुचित मानसिकता उसके विरोध को दबा देती है। 'तिरस्कृत' आत्मकथा में जब गाँव के दलित मरे हुए जानवरों को उठाना बंद करते हैं तो उन्हें सवर्णों द्वारा किस तरह पीड़ित किया जाता है। लेखक ने इस संदर्भ में लिखा है–"हमारे गांव के जाटवों ने बहुत पहले मरे जानवरों को उठाना बंद कर दिया था। गांव के तथाकथित सवर्णों को यह काम अच्छा नहीं लगा। इस घृणित काम को छोड़ने के लिए हमारे गांव के जाटवों को गुलामी से मुक्ति के लिए कठोर दंश झेलने पड़े। उनका और उनकी बहन बेटियों का घर से निकलना दूभर कर दिया गया।"[2]

मनुस्मृति की यह वर्ण व्यवस्था भारत में पिछले पांच हजार साल से देश का संविधान 26 जनवरी, 1950 को लागू होने तक रही। इस वर्ण व्यवस्था के कारण 15 प्रतिशत द्विजों ने 85 प्रतिशत शूद्रों (दलितों) को बंधुआ, दास व गुलाम बनाये रखा और देश की सत्ता व सम्पदा पर एकाधिकार बनाये रखा। इसी समाज व्यवस्था द्वारा दिए गए कड़वे अनुभवों की अनुभूति हम दलित आत्मकथाकारों की आत्मकथाओं में पाते हैं।

ब्राह्मणवादी विचारधारा का सामाजिक व्यवस्था पर गहरा प्रभाव रहा है। इसी प्रभाव को मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा 'अपने अपने पिंजरे–1' में दर्शाया है जहाँ गाँव हो या शहर दलित समाज एक अलग छोर पर ही बसा हुआ मिलता है–

"हर जाति और वर्ग के लोग अपनी–अपनी पहचान में सिमटे हुए थे। शहर धड़कता था पर अलग अलग स्वर में बस्तियां थिरकती–नाचती थी, अलग–अलग बोलियों में। उन सबसे मिलकर बना था यह शहर।"[3] अतः भारतीय समाज में जाति द्वारा ही व्यक्ति की पहचान होती है। लेखक इस समस्या की ओर इंगित करते हुए लिखते है–

"हिन्दू समाज में आदमी की कीमत उसकी जात से आंकी जाती थी। हमें विशेष तौर पर 'चमार–चूड़े' नाम से सम्बोधित किया जाता है।"[4]

'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि के माता–पिता बालक ओमप्रकाश को जगह–जगह ब्राह्मणवादी मानसिकता का असली चेहरा दिखाते है और उन्हें पढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। लेखक लिखते हैं– "वे मुझे कोई भी काम करने नहीं देते थे। बस, पढ़ाई करो। कहते थे, पढ़ लिखकर अपनी 'जाति' सुधारो।"[5] लेकिन लेखक का यह व्यक्तिगत अनुभव रहा है कि पढ़ने–लिखने के बाद भी जाति का दंश पीछा नहीं छोड़ता। लेखक लिखते हैं– "उन्हें पता नहीं था, पढ़ लिख कर जातियाँ नहीं सुधरती। वे सुधरती हैं जन्म से।"[6]

लेखक की इस टिप्पणी पर गौर किया जाए तो साफ पता चलता है कि जाति व्यवस्था मनुष्य का जीवन पर्यन्त पीछा नहीं छोड़ती। फिर ऐसी समाज व्यवस्था में मानवाधिकारों का क्या औचित्य है? जाति का जहर दलित समाज वर्तमान में भी पी रहा है तथा विभिन्न अन्याय व अत्याचारों का शिकार है। इस व्यवस्था का वर्तमान में जारी रहना भारतीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था पर प्रहार करता है। जिसे आत्मकथाकारों ने बड़े बेबाकी ढंग से प्रस्तुत किया है।

जाति व्यवस्था का सबसे घृणित आविष्कार अस्पृश्यता है। ज्योतिबा फूले और अम्बेडकर जैसे दलित महापुरुषों ने इस प्रथा के विरूद्ध संघर्ष का ऐलान किया था, लेकिन सवर्ण समाज सुधारकों की ओर से इस समस्या पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया जिसके कारण समाज में इस सामाजिक बुराई की जड़ें और गहरी होती गई। दलितों के प्रति सवर्णों का व्यवहार ऐसा होता है कि पानी पिलाने में भी उनकी जाति आड़े आ जाती है। एक ही रास्ते में चलने से उनका धर्म भ्रष्ट हो जाता है। आत्मकथाकारों ने अपनी लेखनी के माध्यम से ऐसे प्रसंगों को उद्घाटित किया है जिससे मानवता की रूह भी कांप जाए।

'दोहरा अभिशाप' की लेखिका कौशल्या बेसन्त्राी भी अस्पृश्यता के दंश को झेलती है। जब वह अपनी बहन की सहेली के घर जाकर उनके घड़े से पानी लेकर हाथ धोने लगती हैं उन्हें अस्पृश्यता के दंश से गुजरना पड़ता है–

"एक दिन उसके आंगन में रखे पानी के घड़े से मैंने पानी लिया हाथ धोने के लिए। जंगला बहुत जोर से चीखी कि घड़े को क्यों छू दिया? अब हमें घड़ा फेंकना पड़ेगा। मैं उस वक्त सात–आठ वर्ष की थी । मेरी समझ में नही आ रहा था कि मेरे हाथ लगाने से ऐसा क्या हो गया। जंगला का घर हमसे अच्छा नहीं था। घर में बकरियां बंधी थी। और उनके मल मूत्र की बहुत बदबू आ रही थीं। फिर भी जंगला हमसे छुआछूत बरतती थी।"[7] 'अपना बचपन अपने कंधों पर' आत्मकथा के लेखक श्यौराज सिंह 'बेचैन जब यादवों के घर बेगारी करता है जहां नई–नवेली दुल्हन आकर श्यौराज के कपड़े बाहर रख देती है और वह अपने पति से कहती है– "हमारे यहाँ यादवों के घरों में चमार की कोई चीज आंगन के भीतर नहीं आती। आप लोग उसके कपड़े अंदर रखते ही क्यों हैं? वह कोई जाति का सदस्य है।"[8] इस तरह अस्पृश्यता की समस्या से हर आत्मकथाकार को गुजरना पड़ा है।

ऐसा ही अस्पृश्यता का मंजर सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' में दिखाया है। जहाँ गाँव का सवर्ण जमींदार प्यास लगने पर उसे व उसके परिवार को पानी पिलाने से मना कर देता है। अस्पृश्यता की यह समस्या सम्पूर्ण समाज को वर्तमान में भी घुण की तरह खाए जा रही है। जहाँ समानता व स्वतन्त्रता जैसे अधिकार धूमिल होते दिखाई देते हैं।

'जूठन' आत्मकथा में दलितों की दयनीय स्थिति का निर्मम चित्रण हुआ है। लेखक को जाति का छोटापन कदम कदम पर छलता है। मरे पशुओं को उठाना और उनकी खाल उतारना आदि घृणित कार्य लेखक ने स्वयं किए हैं और लेखक ऐसे कार्यों को करने के लिए कितने मजबूर है इसका चित्रण इस प्रकार किया है–"मैं जैसे स्वयं ही गहरे दल–दल में फंस रहा था जहाँ से मैं उबरना चाहता था, हालात मुझे उसी दल दल में घसीट रहे थे। जिस यातना को मैंने भोगा है, आज भी उसके जख्म मेरे तन पर ताजा हैं।"[9] अतः यहाँ दलित समाज पर सवर्ण समाज का शोषण ही दिखाई पड़ता है। जहां नैतिक मूल्यों का कोई औचित्य नहीं।

गुरु–शिष्य का सम्बंध अति महत्वपूर्ण व संवेदनशील होता है। गुरु के आचरण व उसकी शिक्षा का सीधा प्रभाव विद्यार्थी पर पड़ता है। लेकिन नैतिक मूल्यों व मानवीय मूल्यों की शिक्षा देने वाले गुरुओं का क्रूर रूप विवेच्य आत्मकथाओं में उभरकर आया है। जहाँ गुरू का काम सभी शिष्यों को समान भाव से देखते हुए उचित शिक्षा व ज्ञान बाँटने का होना चाहिए। वहाँ इन आत्मकथाओं में इनके नैतिक पतन को चित्रित किया गया है। चाहे 'जूठन' के वाल्मीकि हो, चाहे 'तिरस्कृत' के सूरजपाल चौहान, 'अपने अपने पिंजरें के मोहनदास नैमिशराय हो या 'फिर मेरा सफर मेरी मंजिल' आत्मकथा के डी0आर0

जाटव हो, शिक्षकों की ब्राह्मणवादी मानसिकता का शिकार इन्हें कदम कदम पर होना पड़ा है। सभी आत्मकथाओं में शिक्षकों का ऐसा हिंसक चेहरा उभर कर आया है जिससे कि मानवता की रूह भी कांप जाए।

आत्मकथा 'जूठन' पूरी शिक्षा पद्धति और सवर्ण शिक्षकों की घिनौनी मानसिकता को उजागर करती है। शिक्षक इस आत्मकथा में इतना अधिक खलनायक रूप में आया है कि शिक्षक के बारे में अब तक के सारे आदर्श ध्वस्त होते दिखाई देते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है–"अध्यापकों का आदर्श रूप जो मैंने देखा था वह अभी तक मेरी स्मृति से मिटा नहीं है। जब भी कोई आदर्श गुरू की बात करता है तो मुझे वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं जो माँ–बहन की गालियाँ देते थे। सुन्दर लड़कों के गाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे वाहियातपन करते थे।"[10] दलित छात्रों के साथ शिक्षक द्वारा उत्पीड़न प्राथमिक स्कूल से शुरू हो जाते है और बड़ी कक्षाओं में पहुँचने पर ये भेदभाव का रूप ले लेते है स्कूलों में दलित छात्रों को पढ़ाने की बजाय उन्हें मारना–पीटना और बेगार आदि काम करवाया जाता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि जब स्कूल में दाखिला लेते है तो हेडमास्टर कलीराम का उनके प्रति ऐसा ही व्यवहार करता है। एक रोज हैडमास्टर कलीराम ने अपने कमरे में बुलाकर पूछा– "नाम क्या है बे तेरा?

"ओम प्रकाश" मेंने डरते हुए धीमे स्वर में कहा।

"चूहडे का है?" हैडमास्टर का दूसरा सवाल उठा।

"जी"

"ठीक है... वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियां तोड़के झाड़ू बणा ले। पत्तो वाली झाड़ू बणाना। और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसे सीसा। तेरा तो खानदानी काम है जा..... फटाफट लग जा काम पे।"[11]

वाल्मीकि तीन दिन तक लगातार स्कूल में झाड़ू लगाते रहा और स्कूल के प्रधानाचार्य को उस विद्यार्थी पर कोई तरस नहीं आया। इसके साथ–साथ बेगार के कार्य भी दलित छात्रों से करवाया जाता और कक्षा में भी प्रैक्टिकल के पीरियड में किसी न किसी बहाने बाहर भेज देते और अंत में उसे इंटर के प्रैक्टिकल और मौखिक परीक्षा में जान–बूझकर फेल कर देते है। स्वतन्त्र भारत के सवर्ण शिक्षकों का दलित छात्रों के साथ व्यवहार अत्यन्त ही घिनौना था। जिसमें मूल्य नाम की चीज का कोई स्थान नहीं।

ब्राहमणवाद ने ज्ञान पर एकाधिकार करके अपना वर्चस्व स्थापित किया। और शूद्रों को ज्ञान प्राप्ति से दूर रखा। दलित चितंक ज्योतिबा फूले और डॉ0 अम्बेडकर ने दलितों को ज्ञान व शिक्षा प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से प्रेरित किया। सवर्ण समाज दलितों को सेवक बनाए रखना चाहता था, इसलिए उन्हें अशिक्षित रखा जाता रहा है। दलित वर्ग के विद्यार्थियों को बिना किसी कारण प्रताड़ित करना और उनको शिक्षा प्राप्त करने से हतोत्साहित करने की समाज में अनेक घटनाएँ घटी है। सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' में लेखक के ऐसे ही अनुभवों की पुष्टि होती है जहाँ उन्हें शिक्षा से वंचित करने के लिए तरह–तरह के षड्यन्त्र रचे गए। लेखक इसी सवर्ण मानसिकता को उजागर करते हुए कहते हैं–"यदि देश के सारे चूहड़े–चमार पढ़ लिख गए तो गली–मोहल्लों की सफाई और जूते बनाने का कार्य कौन करेगा।"[12]

'मेरा सफर मेंरी मंजिल' आत्मकथा में डी0 आर0 जाटव को शोधकार्य के दौरान सवर्ण मानसिकता वाले शिक्षकों का शिकार होना पड़ा। पूरी आत्मकथा डी0 आर0 जाटव के शिक्षा जगत के सवर्ण शिक्षकों के साथ संघर्ष की आत्मकथा है। एक जीवट भरे विधार्थी और शोधार्थी की संघर्ष गाथा है यह आत्मकथा। मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा में शिक्षकों के नैतिक पतन को दर्शाया गया है। इस तरह दलित जातियों के विधार्थियों के प्रति सवर्ण मानसिकता से ग्रसित अध्यापकों द्वारा तरह–तरह के अत्याचार व प्रताड़ित करने की घटनाएँ इन आत्मकथाओं में उभरकर आयी है। जिसमें शिक्षा व शिक्षक की बदरंग छवि उभरकर आयी है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वाधीन भारत में पूरी कानूनी व्यवस्था के संरक्षण के बावजूद भी दलितों और अछूतों को शिक्षा व ज्ञान के क्षेत्र से बाहर रखने का प्रयास किया जाता रहा है। आलोच्य आत्मकथाओं में दलित आत्मकथाकारों ने इस व्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए दलित समुदाय के बीच शिक्षा के महत्त्व को रेखांकित किया है।

सवर्णों की ओछी मानसिकता का पता दलितों के नामकरण के संदर्भ में भी दिखाई पड़ता है। दलितों का नाम बिगाड़कर पुकारना सवर्ण अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानते हैं और दलितों को हीनता बोध से ग्रसित किया जाता है। आलोच्य आत्मकथाओं से ज्ञात होता है कि दलित समाज के लिए सवर्ण समाज का सम्बोधन जाति आधारित रहा है। जिसमें अबे चूहड़े के, भंगी या चमार आदि रहे हैं इन आत्मकथाओं में यह बात भी उभर कर आई है कि दलित व्यक्तियों का नाम

हमेशा सेवा भाव युक्त रहा है जैसे– रामदास, सेवादास, या लगडू, काना, खचरू, खचेरा, खूबा, दुंडा आदि। श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपनी आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में लिखते हैं–"व्यक्तियों और जातियों के नामों के पीछे जो सम्मान और हिकारत का भाव होता है, वह मैं बाद में समझ पाया। ब्राह्मणों ने मेरे गांव के चमारों के नाम दुर्जना, खचेरू, खूबा, दुंडा और घुरऊ बगैरह रखे और क्यों यादवों ने भी अच्छे–खासे नामों विधाराम को बीघा, गंगाराम को गंगी, राधेश्याम का रधुआ, सौराज को शौरा करके विकृत कर दिया।"[13] इसी तरह 'जूठन' 'तिरस्कृत', 'अपने–अपने पिंजरे' व 'दोहरा अभिशाप' आदि आत्मकथाओं में भी ऐसे प्रसंग आये हैं जहाँ दलितों को नाम रखने तक के अधिकार से भी वंचित किया गया है। ऐसे परिवेश में मानवाधिकारों की बात तो बैमानी ही लगती है। साथ ही साथ सवर्ण समाज की शोषण व रक्तचूषक प्रवृति भी उजागर होती है जहाँ सारे मानवीय मूल्य बेकार हो जाते हैं।

इस प्रकार मानवता की पुकार करती इन दलित आत्मकथाओं में दलित जीवन की प्रखर और सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है। ब्राह्मणवादी व मनुवादी व्यवस्था में दलित जीवन की जो सच्चाईयां अब तक बंद अंधेरे कमरे मे कैद थी इन आत्मकथाओं ने उनको रोशनी प्रदान की है। आत्मकथाकारों के व्यक्तिगत जीवन से शुरू होकर ये आत्मकथाएँ शोषितों, वंचितों व अस्पृश्यों की सामाजिक सच्चाई को व्यक्त करती हैं जिसमें दलित जीवन को दुख–दर्द, व्यथा–वेदना, अंधविश्वास, अमानवीय परम्पराओं से गुजरना पड़ा है। मानवाधिकारों के हनन की कहानियों को प्रस्तुत करती ये आत्मकथाएँ दलित समाज की गरीबी, भूखमरी, बेकारी, बाल मजदूरी, ऋणग्रस्तता व आर्थिक विपन्नता से त्रस्त जीवन की स्थितियों को बयान करती है। ऐसी स्थिति में लोकतान्त्रिक व्यवस्था के समानता, स्वतन्त्रता, बंधुता व भाईचारे जैसे मूल्य निरर्थक दिखाई देते हैं तथा दलित जीवन को विकास पथ पर अग्रसर करने वाले विभिन्न आयोग, संगठन, योजनाएँ व सुविधाएँ मात्र कागजी कारवाई के रूप में नजर आते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सूरजपाल चौहान : तिरस्कृत, गाजियाबाद, अनुभव प्रकाशन, सं0 2002, पृ0 41
2. यथावत्, पृ0 40
3. नैमिशराय, मोहनदास : अपने–अपने पिजंरे–1, (आत्मकथा), नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, सं0 1995, पृ0 12
4. यथावत्, पृ0 22
5. ओमप्रकाश वाल्मीकि : जूठन (आत्मकथा), नई दिल्ली, राधाकृष्ण पैपर बैक्स, सं0 1999, पृ0 73
6. यथावत्, पृ0 73
7. बैसन्त्री, कौशल्या : दोहरा अभिशाप, दिल्ली, परमेश्वरी प्रकाशन, प्र0 सं0 1999, पृ0 88
8. बेचैन, श्यौराज सिंह : मेरा बचपन मेरे कंधों पर (आत्मकथा), दिल्ली, वाणी प्रकाशन, प्र0 सं0 2009, पृ0 37
9. ओमप्रकाश वाल्मीकि : जूठन (आत्मकथा), पृ0 47
10. यथावत्, पृ0 14
11. यथावत्, पृ0 15
12. सूरजपाल चौहान : तिरस्कृत (आत्मकथा), पृ0 13
13. श्यौराज सिंह बेचैन : मेरा बचपन मेरे कंधों पर (आत्मकथा), पृ0 225